Available online at http://www.nrjp.co.in

एकात्म
संस्करण १, अंक १, चैत्र मास, २०१८

National Research
& Journal Publication

संस्मरण

दीनदयाल उपाध्याय होने का मतलब

डा० अतुल कुमार सिंह
विनोवा नगर, गांधीग्राम, कानपुर नगर

सारांश

राजनीति में विचारों के लिए सिकुड़ती जगह के बीच पं. दीनदयाल उपाध्याय का नाम एक ज्योतिपुंज की तरह सामने आता है। अब जबकि उनकी विचारों की सरकार पूर्ण बहुमत से दिल्ली की सत्ता में स्थान पा चुकी है, तब यह जानना जरूरी हो जाता है कि आखिर दीनदयाल उपाध्याय की विचारयात्रा में ऐसा क्या है जो उन्हें उनके विरोधियों के बीच भी आदर का पात्र बनाता है।

दीनदयाल जी सिर्फ एक राजनेता नहीं थें, वे एक पत्रकार, लेखक, संगठनकर्ता, वैचारिक चेतना से लैस एक सजग इतिहासकार, अर्थशास्त्री और भाषाविद् भी थे। उनके चिंतन, मनन और अनुशीलन ने देश को 'एकात्म मानवदर्शन' जैसा एक नवीन भारतीय विचार दिया।

मुख्य शब्द : *इतिहासकार, अर्थशास्त्री, भाषाविद, दीनदयाल उपाध्याय।*

सही मायने में एकात्म मानवदर्शन का प्रतिपादन कर दीनदयाल जी ने भारत से भारत का परिचय कराने की कोशिश की। विदेशी विचारों से आक्रांत भारतीय राजनीति को उसकी माटी से महक से जुड़ा हुआ विचार देकर उन्होंने एक नया विमर्श खड़ा कर दिया। अपनी प्रखर बौद्धिक चेतना, समर्पण और स्वाध्याय से वे भारतीय जनसंघ को एक वैचारिक और नैतिक आधार देने में सफल रहे। सही मायने में वे गांधी और लोहिया के बाद एक ऐसे राजनीतिक विचारक हैं, जिन्होंने भारत को समझा और उसकी समस्याओं के हल तलाशने के लिए सचेतन प्रयास किए। वे अनन्य देशभक्त और भारतीय जनों को दुखों से मुक्त कराने की चेतना से लैस थे, इसीलिए वे कहते हैं–"प्रत्येक भारतवासी हमारे रक्त और मांस का हिस्सा है। हम तब तक चैन से नहीं बैठेंगें जब तक हम हर एक को यह आभास न करा दें कि वह भारत माता की संतान है। हम इस धरती मां को सुजला, सुफला, अर्थात फल–फूल, धन–धान्य से परिपूर्ण बनाकर ही रहेंगें।" उनका यह वाक्य बताता है कि वे किस तरह का राजनीतिक आदर्श देश के सामने रख रहे थे। उनकी चिंता के केंद्र में अंतिम व्यक्ति है, शायद इसीलिए वे अंत्योदय के विचार को कार्यरूप देने की चेष्ठा करते नजर आते हैं।

वे भारतीय समाज जीवन के सभी पक्षों का विचार करते हुए देश की कृषि और अर्थव्यवस्था पर सजग दृष्टि रखने वाले राजनेता की तरह सामने आते हैं। भारतीय

अर्थव्यवस्था पर उनकी बारीक नजर थी और वे स्वावलंबन के पक्ष में थे। राजनीतिक दलों के लिए दर्शन और वैचारिक प्रशिक्षण पर उनका जोर था। वे मानते थे कि राजनीतिक दल किसी कंपनी की तरह नहीं बल्कि एक वैचारिक प्रकल्प की तरह चलने चाहिए। उनकी पुस्तक 'पोलिटिकल डायरी' में वे लिखते हैं–"भिन्न–भिन्न राजनीतिक पार्टियों के अपने लिए एक दर्शन (सिद्धांत या आदर्श) का क्रमिक विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्र होने वाले लोगों का समुच्च मात्र नहीं बनना चाहिए। उनका रूप किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान या ज्वाइंट स्टाक कंपनी से अलग होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि पार्टी का दर्शन केवल पार्टी घोषणापत्र के पृष्ठों तक ही सीमित न रह जाए। सदस्यों को उन्हें समझना चाहिए और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक जुट जाना चाहिए।" उनका यह कथन बताता है कि वे राजनीति को विचारों के साथ जोड़ना चाहते थे। उनके प्रयासों का ही प्रतिफल है कि भारतीय जनसंघ (अब भाजपा) को उन्होंने वैचारिक प्रशिक्षणों से जोड़कर एक विशाल संगठन बना दिया। यह विचार यात्रा दरअसल दीनदयाल जी द्वारा प्रारंभ की गयी थी, जो आज वटवृक्ष के रूप में लहलहा रही है। अपने प्रबोधनों और संकल्पों से उन्होंने तमाम राजनीतिक कार्यकर्ताओं तथा जीवनदानी उत्साही नेताओं की एक बड़ी श्रृंखला पूरे देश में खड़ी की।

कार्यकर्ताओं और आम जन के वैचारिक प्रबोधन के लिए उन्होंने पांचजन्य, स्वदेश और राष्ट्रधर्म जैसे प्रकाशनों का प्रारंभ किया। भारतीय विचारों के आधार पर एक ऐसा दल खड़ा किया जो उनके सपनों में रंग भरने के लिए तेजी से आगे बढ़ा। वे अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति भी बहुत उदार थे। उनके लिए राष्ट्र प्रथम था। गैरकांग्रेस की अवधारणा को उन्होंने डा ।राममनोहर लोहिया के साथ मिलकर साकार किया और देश में कई राज्यों में संविद सरकारें बनीं। भारत–पाक महासंघ बने इस अवधारणा को भी उन्होंने डा लोहिया के साथ मिलकर एक नया आकाश दिया। विमर्श के लिए बिंदु छोड़े। यह राष्ट्र और समाज सबसे बड़ा है और कोई भी राजनीति इनके हितों से उपर नहीं है। दीनदयाल जी की यह ध्रुव मान्यता थी कि राजनीतिक पूर्वाग्रहों के चलते देश के हित नजरंदाज नहीं किए जा सकते। वे जनांदोलनों के पीछे दर्द को समझते थे और समस्याओं के समाधान के लिए सत्ता की संवेदनशीलता के पक्षधर थे।

जनसंघ के प्रति कम्युनिस्टों का दुराग्रह बहुत उजागर रहा है। किंतु दीनदयाल जी कम्युनिस्टों के बारे में बहुत अलग राय रखते हैं। वे जनसंघ के कालीकट अधिवेशन में 28 दिसंबर,1967 को कहते हैं–" हमें उन लोगों से भी सावधान रहना चाहिए जो प्रत्येक जनांदोलन के पीछे कम्युनिस्टों का हाथ देखते हैं और उसे दबाने की सलाह देते हैं। जनांदोलन एक बदलती हुयी व्यवस्था के युग में स्वाभाविक और आवश्यक है। वास्तव में वे समाज के जागृति के साधन और उसके द्योतक हैं। हां, यह आवश्यक है कि ये आंदोलन दुस्साहसपूर्ण और हिंसात्मक न हों। प्रत्युत वे हमारी कर्मचेतना को संगठित कर एक भावनात्मक क्रांति का माध्यम बनें। एतदर्थ हमें उनके साथ चलना होगा, उनका नेतृत्व

करना होगा। जो राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं वे इस जागरण से घबराकर निराशा और आतंक का वातावरण बना रहे हैं। "

इस प्रकार हम देखते हैं कि दीनदयाल जी का पूरा लेखन और जीवन एक राजनेता की बेहतर समझ, उसके भारत बोध को प्रकट करता है। वे सही मायने में एक राजनेता से ज्यादा संवेदनशील मनुष्य हैं। उनमें अपनी माटी और उसके लोगों के प्रति संवेदना कूट–कूट कर भरी हुयी है। 'सादा जीवन और उच्च विचार' का मंत्र उनके जीवन में साकार होता नजर आता है। वे अपनी उच्च बौद्धिक चेतना के नाते भारत के सामान्य जनों से लेकर बौद्धिक वर्गों में भी आदर से देखे जाते हैं। एक लेखक के नाते आप दीनदयाल जी को पढ़ें तो अपने विरोधियों के प्रति उनमें कटुता नहीं दिखती। उनकी आलोचना में भी एक संस्कार है, सुझाव है और देशहित का भाव प्रबल है। जन्म शताब्दी वर्ष में उनके जैसे लोकनायक की याद सत्ता में बैठे लोग करेंगें, शेष समाज भी करेगा। उसके साथ ही यह भी जरूरी है कि उनके विचारों का अवगाहन किया जाए, उस पर मंथन किया जाए। वे कैसा भारत बनाना चाहते थे? वे किस तरह समाज को दुखों से मुक्त करना चाहते थे? वे कैसी अर्थनीति चाहते थे?

दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक थे। 1950 में जब भारतीय जनसंघ का गठन हुआ तो वे जनसंघ का कार्य देखने लगे। डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था यदि मुझे दीनदयाल उपाध्याय जैसे चार कार्यकर्ता मिल जाये तो मैं देश की राजनीति बदल सकता हूं। उपाध्याय जी जोड़ने की कला में माहिर थे। शायद यही कारण था। कि जब जनसंघ की स्थापना के 2 वर्ष के भीतर ही डॉ0 मुखर्जी की श्रीनगर में संदिग्ध हालात में मृत्यु हो गई तो बहुत लोगों को लगता था कि अब जनसंघ चल नहीं पायेगा, तो दीनदयाल जी ने इस आशंका को निर्मूल सिद्ध किया और जनसंघ प्रगति पथ पर बढ़ने लगा। दीनदयाल उपाध्याय राम मनोहर लोहिया के साथ मिलकर देश की राष्ट्रवादी शक्तियों का एक मंच तैयार करना चाहते थे। परन्तु इसे देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जनसंघ के केरल अधिवशन के बाद उनकी भी मुगलसराय के पास हत्या कर दी गई। इसी दुर्योग ही कहना चाहिए कि न तो डॉ0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी की हत्या पर से पर्दा उठ पाया और न ही दीनदयाल उपाध्याय की हत्या से। लेकिन दीनदयाल जी ने राष्ट्रवादी शक्तियों के लिए जो आधार भूमि तैयार कर दी थी, उसी का सुफल था कि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रवादी शक्तियां देश की राजनीति की धुरी में स्थापित हो गई। दीनदयाल जी की प्रसिद्धि का एक और कारण भी रहा, जब उन्होंने एकात्म मानववाद की अवधारणा दी तो उस पर खूब चर्चा हुई। विश्वविद्यालयों में, बौद्विक संस्थानों में यह गर्मागर्म बहस का विषय बना। सहमत होना या न होना अलग बात थी लेकिन एकात्म मानववाद की अवेहलना करना बौद्विक जगत के लिए मुश्किल था। दीनदयाल उपाध्याय ने मानव व्यवहार, व्यक्ति और समाज, मानव विकास के मौलिक प्रश्नों पर चिन्तन करके एकात्म मानववाद की अवधारणा स्थापित की थी। दरअसल मानव को लेकर विश्व भर के चिन्तकों में आदि काल से चिन्तन होता रहा है। सभी चिन्तन मानव के विकास और उसके

सुख के लिए समर्पित होने का दावा करते हैं। लेकिन इस दिशा में चिन्तन करने से पहले यह भी जरूरी है कि मानव के मन को समझ लिया जाये। यदि मानव के मन की ठीक समझ आ जाये तभी तो उसके सुख व विकास के लिए रास्ते तय किये जा सकते हैं। यह काम पश्चिम में भी होता राह है और भारत में भी। पश्चिम ने। मानव मन को समझने का दावा किया। ऐसे चिन्तकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुश्य समाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रह सकता उसका सुख दुख समाज के सुख दुःख से जुड़ा हुआ है। दूसरे चिन्तकों ने इसे अमान्य किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य वास्तव में आर्थिक प्राणी है। उसकी सामाजिकता भी तब तक ही है जब तक इससे उसके आर्थिक हितों की पूर्ति होती है। जीवन यापन के लिए जो बुनियादी जरूरते हैं, उन्हीं की प्राप्ति मनुष्य का लक्ष्य है और इसी से उसे सुख मिलता है। पश्चिम के कुछ चिन्तकों ने इसे भी नकार दिया। उनके अनुसार मानव व्यवहार वस्तुतः काम से संचालित होता है बाकी सब चीजे गौण हैं। पश्चिमी चिन्तकों के ये निष्कर्ष ठीक हो सकते हैं परन्तु सब मिलकर ठीक हैं। एकांगी ठीक नहीं है। परन्तु पष्चिमी चिन्तक इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए उन्होंने मानव शास्त्र के जितने सिद्धांत गढ़े वे सभी किसी एक कारक को प्रमुख मान कर ही गढ़े।

पूंजीवाद और साम्यवाद की अवधारणाएं वस्तुतः भौतिक कारकों को आधार बनाकर गढ़ी गई। इन अवधारणाओं और सिद्धांतों से जिस प्रकार का नुकसान हो सकता था, पश्चिम उसको भोग रहा है। दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की अवधारणा स्थापित की। यह अवधारणा भारत के युगयुगीन सांस्कृतिक चिन्तन पर आधारित है। उपाध्याय जी मानते थे कि समाजवाद, पूंजीवाद या फिर साम्यवाद, एक शब्द में कहना हो तो अर्थवाद या भौतिकवाद मूलतः भटकाव ज्याद पैदा करता है और समाधान कम देता है। पूंजीवाद या फिर साम्यवाद के निष्चित खांचों में फिट होने के लिए मानव नहीं है। मूल अवधारणा मानववाद की होनी चाहिए और बाकी सभी वाद या सिद्धांत मानव को केन्द्र में रखकर ही रचे जाने चाहिए। लेकिन पश्चिम में इसके विपरीत हो रहा है। अर्थवाद के प्रणेताओं ने सिद्वांत गढ़ लिये है और अब मानव को विवश कर रहे हैं कि इन काल्पनिक सिद्धांतों के आधार पर स्वयं को ढालें।

मानव वाद या मानव के विकास को खंड खंड करके नहीं देखा जा सकता उसके लिए एकात्म दृष्टि चाहिए। मानव को सभी प्रकार की वस्तुओं की दरकार है। उसे समाज भी चाहिए, बुनियादी जरूरतों की पूर्ति भी चाहिए, काम के । क्षेत्र में संगीत साहित्य कला भी चाहिए। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उसे ये सब एक साथ ही चाहिए। शायद इसलिए दीनदयाल उपाध्याय जी ने मानव के विकास अथवा मानववाद के रास्ते को एकात्म कहा है। एकात्म मानववाद मानव के सम्पूर्ण विकास की बात करता है। दीनदयाल उपाध्याय इसे पुरूशार्थ चतुष्ट्य की पुरातन भारतीय अवधारणा से समझाते थे। भारतीय चिन्तकों ने चार पुरूशार्थों की चर्चा की है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष परन्तु ये चारों पुरूषार्थ अलग–अलग नहीं

है, परस्पर गुम्फित हैं। अर्थ और काम की साधना तो मनुष्य करेगा ही लेकिन इन दोनों क्षेत्रों में कर्म करने के लिए धर्म की सीमा रेखा निश्चित है। एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि सभी प्रकार के पुरूषार्थों की साधना करते हुए मानव जीवन का कोई न कोई लक्ष्य भी होना चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने इसी लक्ष्य को मोक्ष कहा है। एकात्म की अवधारणा को समझाने के लिए दीनदयाल जी संबधों का एक और उदाहरण दिया करते थे। एक ही व्यक्ति एक साथ कई सम्बन्धों को निभाता है। वह एक साथ ही पिता है, भाई है, बेटा है। ये सभी संबध एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यही मानव प्रकृति की एकात्मता है। मनुष्य शिशु होता है, फिर जवान होता है और अंत में बूढ़ा होता है लेकिन मनुष्य की ये तीनों अवस्थाएं एक सम्पूर्ण इकाई बनाती हैं। पश्चिम ने शायद मानव की इस सम्पूर्णता को अनदेखा किया और उसे खंडित नजरिये से देख कर विकास के मॉडल तैयार किये। दीनदयाल उपाध्याय ने इन्हीं मॉडलों के विकल्प में 'मानव विकास' का भारतीय मॉडल दिया, जिसे बौद्धिक समाज में 'एकात्म मानववाद' के नाम से जाना जा रहा है। तिब्बत में हो रहे एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में अपने उद्बोधन में पूर्व राष्ट्रपति जॉन हावेल ने कहा कि '''हमने तो पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं को देख लिया है। दोनों व्यवस्थाए हीं मूलतः अर्थवादी हैं और एकांगी हैं।'' जॉन हावेल शायद अप्रत्यक्ष रूप से दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का ही समर्थन कर रहे थे, जो कम से कम 'एकांगी' नहीं 'एकात्म' है।

एकात्म मानववाद की अवधारणा में दीनदयाल उपाध्याय ने आज के एकांगी विकास मॉडलों की दुःखती रग पर हाथ रखा है। मनुष्य जो भी क्रियाएं करता है और जिस प्रकार के भी विकास मॉडलों को लागू करता है उन सभी का अन्तिम उद्देश्य तो सुख या संतुष्टि प्राप्त करना ही है। अर्थवादी यह समझते हैं कि ज्यादा भोग से ही ही सुख मिलता है परन्तु दीनदयाल जी ने उदाहरण देकर कहा कि सुख मन की स्थिति पर निर्भर करता है। इसलिए विकास की समग्र अवधारणा का समर्थन किया जिसमें मन बुद्धि और शरीर तीनों के विकास का समन्वय हो। आज जब भोगवादी विकास के सिद्धांतों से दुनिया भर में सुख क्षीण हो रहा है, संसाधनों के अनुचित प्रयोग से मानव के अस्तित्व पर ही संकट आ गया है तब दीनदयाल उपाध्याय की एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

आज स्वतंत्रता–प्राप्ति के 66 वर्ष उपरान्त भी भारत के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है कि सम्पूर्ण जीवन की रचनात्मक दृष्टि से कौन–सी दिशा ली जाये? इस संबंध में सामान्यतया लोग सोचने के लिये तैयार नहीं। वे तो तात्कालिक प्रश्नों का ही विचार करते हैं। कभी आर्थिक प्रश्नों को लेकर उनको सुलझाने का प्रयत्न होता है और कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के प्रयत्न किये जाते हैं। किंतु मूल दिशा का पता न होने के कारण ये जितने प्रयत्न होते हैं, न तो उनमें पूरा उत्साह रहता है, न उनमें आनंद का अनुभव होता है और न उनके द्वारा जैसी सफलता मिलनी चाहिये वैसी सफलता ही मिल पाती है।

आधुनिक बनाम पुरातन

देश की दिशा के संबंध में विचार करने वालों में दो प्रकार के लोग हैं। एक तो वे हैं जो कि भारत की हजारों वर्षों से चली आने वाली प्रगति की दिशा में, पराधीन होने पर जहाँ तहाँ रुक गया, वहाँ से उसे आगे बढ़ाना चाहिये—यह विचार ले कर चलते हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं जो कि भारत की उस पुरानी वस्तु का भिन्न—भिन्न कारणों से (काल के कारण से या मूलतः उस अवस्था को अयोग्य मानकर) उसके संबंध में विचार करने को तैयार नहीं। इसके विपरीत पश्चिम में जो आंदोलन हुये, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो विचार—सारणियां जन्मीं, उनको ही वे प्रगति की दिशा समझकर उन संपूर्ण विचारधाराओं और आंदोलनों को भारत के ऊपर आरोपित करने का प्रयत्न करते हैं। भारत उन्हीं का किसी—न—किसी प्रकार से प्रतिबिंब बने, इसी विचार को लेकर वे चलते हैं। ये दोनों ही प्रकार के विचार सत्य नहीं हैं। किंतु, उनको पूर्णतः अमान्य करके भी चलना ठीक नहीं होगा। उनमें सत्यांश अवश्य है।

जो यह विचार करते हैं कि जहां हम रुक गये थे वहीं लौट कर पुनः चलना आरंभ करें, वे यह भूल जाते हैं कि लौटकर चलना वांछनीय हो या न हो, असंभव अवश्य है, क्योंकि समय की गति को पीछे नहीं ले जाया जा सकता।

पुराना छूट नहीं सकता

हजार वर्षों में कुछ हमने किया है, वह विवशता में हमें मिला हो या प्रेमपूर्वक हमने मिलाया हो, उसमें से हर वस्तु को हटा करके नहीं चल सकते। साथ ही इस काल में हमनें स्वयं भी कुछ न कुछ अपने जीवन में निर्माण किया है। जो नयी परिस्थितियाँ पैदा हुईं, जो नयी चुनौतियाँ आयीं, उनमें हम सदैव वैरागी (च्ंपअम ंहमदज)रूप में निष्क्रिय होकर नहीं बैठे। बाहर वालों ने जो कुछ किया, हम केवल उसका प्रतिकार ही नहीं करते रहे, हमने भी परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया। इसलिये उस सब जीवन को भुलाकर तो चल नहीं सकते।

विदेशी विचार सार्वलौकिक नहीं

इसी प्रकार जो लोग विदेशी जीवन तथा विचारों को भारत की प्रगति का आधार बनाकर चलना चाहते हैं, वे भी भूल जाते हैं कि ये विदेशी विचार एक परिस्थिति—विशेष तथा प्रवृत्ति—विशेष की उपज हैं। ये सार्वलौकिक नहीं है। उन पर 'पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता' प्रकृति और संस्कृति की अमिट छाप है। साथ ही वहाँ के ये बहुत से विचार अब पुराने पड़ चुके हैं। कार्ल मार्क्स का सिद्धांत देश और काल दोनों ही दृष्टियों से इतना बदल चुका है कि आज हम मार्क्सवादी विश्लेषण को तोते की तरह रटकर आँख मूँद कर भारत पर लागू करें तो यह वैज्ञानिक अथवा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जायेगा। वह रूढ़िवादिता

होगी। जो अपने देश की रूढ़ियों को मिटाकर सुधार का दावा करें, वे विदेश की रूढ़ियों के दास बन जायें, यह तो आश्चर्य का विषय है।

अपना देश– अपनी परिस्थितियाँ

प्रत्येक देश की अपनी विशेष ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति होती है और उस समय उस देश के जो भी नेता और विचारक होते हैं, वे उस परिस्थिति में से देश को आगे बढ़ाने की दृष्टि से मार्ग निर्धारित करते हैं। अपनी समस्याओं के समाधान के लिये जो हल उन्होंने सुझाये, वे उसी प्रकार, भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले समाज पर पूरी तरह लागू हो जायें, यह विचार करना गलत है।

एक सामान्य उदाहरण लें। विश्व भर में मनुष्यों के शरीर के अंगों की क्रिया समान होते हुये भी जो औषधि इंग्लैण्ड में कारगर होती है, वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। रोगों का संबंध जलवायु, आचार–विचार, खानपान तथा वंश–परंपरा से रहता है। ऊपर से देखने पर रोग एक–सा दिखाई देने पर भी उसकी औषधि सब मनुष्यों के लिये एक नहीं हो सकती। सब रोगों और सब मनुष्यों के लिये एक ही औषधि का नारा लगाने वाले वाले नीम–हकीम हो सकते हैं, चिकित्सक नहीं। आयुर्वेद के सिद्धांत में बताया है– 'यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देश्य तस्यौषधम'। इसलिये बाहर की जितनी भी बातें हैं, उनको हम उसी प्रकार से लेकर अपने देश में चलें, यह तो समाचीन नहीं होगा, उसके द्वारा हम कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे।

किंतु दूसरी बात का भी विचार करना होगा कि ये जितनी भी बातें विश्व में हुई हैं, ये सबकी सब ऐसी नहीं कि उनका संबंध केवल देश विशेष के साथ ही हो। वहां भी मानव रहते हैं और मानव के चिंतन और क्रियाओं में से जो वस्तु पैदा होती हैं, उसका शेष मानवों के साथ भी कुछ न कुछ संबंध रह सकता है। इसलिये मानव के ज्ञान में जो कुछ अर्जित है, उससे हम बिल्कुल आँख बंद करके चलें, यह भी बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी। उसमें से सत्य को हमें स्वीकार करना और असत्य को छोड़ना पड़ेगा। सार का भी अपनी परिस्थिति के अनुसार परिष्कार करना होगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जहां तक शाश्वत सिद्धांतों तथा स्थायी सत्यों का संबंध है, हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें। इन तत्वों में जो हमारा है, उसे युगानुकूल और जो बाहर का है, उसे देशानुकूल ढालकर हम आगे चलने का विचार करें।

आदर्शों का संघर्ष

पश्चिम की राजनीति अभी तक राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समता या समाजवाद के आदर्शों को मानकर चली है। विश्व शांति के लिये भी बीच–बीच में प्रयत्न हुये हैं तथा विश्व–एकता के आदर्श की कल्पना भी लोगों ने की है–इन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में 'लीग ऑफ नेशन्स' तथा दूसरे युद्ध के बाद 'संयुक्त राष्ट्र संघ' को जन्म दिया गया। विभिन्न कारणों से ये सफल नहीं हुये। फिर भी ये उस दिशा में प्रयत्नशील अवश्य हैं।

परन्तु, ये सभी आदर्श व्यवहार में अधूरे तथा विभिन्न समस्याओं को जन्म देने वाले सिद्ध हुये हैं। राष्ट्रीयता दूसरे देशों की राष्ट्रीयता से टकराकर उनके लिये घातक बन जाती है तथा विश्वशांति को नष्ट करती है। साथ ही विश्वशांति को यदि यथास्थिति का पर्याय मान लिया जाये तो बहुत–से राष्ट्र स्वतंत्र ही नहीं हो पायेंगे।

विश्व की एकता और राष्ट्रीयता में भी टकराव आता है। कुछ लोग विश्व–एकता के लिये राष्ट्रीयता को नष्ट करने की बात कहते हैं तो दूसरे विश्व–एकता को स्वप्न–जगत् की बात बताकर अपने राष्ट्र के स्वार्थों को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। दोनों का मेल कैसे बिठाया जाये, इस प्रकार की समस्या प्रजातंत्र और समाजवाद के बीच उपस्थित होती है।

प्रजातंत्र में व्यक्ति–स्वातंर्त्य तो है, परन्तु उसका विकास पूँजीवादी व्यवस्था के साथ शोषण और केन्द्रीयकरण के साधन के रूप में हुआ। शोषण मिटाने के लिये समाजवाद लाया गया। परन्तु उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा को ही नष्ट कर दिया। आज विश्व किंकर्तव्यविमूढ़ है। उसे मार्ग नहीं दिख रहा कि वह कहाँ जाये। पश्चिम आज इस अवस्था में नहीं कि वह निर्विवाद रूप से आत्म–विश्वासपूर्वक कह सके "नान्यः पन्था"। वे स्वयं मार्ग टटोल रहे हैं, अतः उनका अन्धानुकरण करने से तो 'अन्धेन नीयमाना यथान्धारू' की ही उक्ति चरितार्थ होगी। इस परिस्थिति में हमारी दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर जाती है। क्या यह विश्व की समस्या के समाधान में कुछ योगदान कर सकती है?

संस्कृति का विचार करें

राष्ट्रीय दृष्टि से तो हमें अपनी संस्कृति का विचार करना ही होगा, क्योंकि वह हमारी अपनी प्रकृति है, स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ संबंध रहता है। संस्कृति का विचार न रहा तो स्वराज्य की लड़ाई स्वार्थी और पदलोलुप लोगों की राजनीतिक लड़ाई मात्र रह जायेगी। स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा, जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा। इस अभिव्यक्ति में हमारा विकास भी होगा और हमें आनंद की अनुभूति भी होगी। अतः आज राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टियों से आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों का विचार करें।

भारतीय संस्कृति–एकात्मवादी

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह संपूर्ण जीवन का, संपूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी (Integrated) है। टुकड़े–टुकड़े में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं। पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के संबंध में खण्डशः विचार करना तथा फिर उन सबको पैबंद लगाकर जोड़ने का प्रयत्न करना है।

हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है, किंतु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है। विज्ञानवेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत् में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूँढ निकाले, उनके नियमों का पता लगाये तथा तदनुसार व्यवहार के नियम बनाये। रसायनशास्त्रियों ने संपूर्ण भौतिक जगत् में से कुछ आधारभूत तत्व (element) ढूँढ निकाले तथा बताया कि सभी वस्तुयें उनसे ही बनी हैं। भौतिकी उससे भी आगे गयी। उसने इन तत्वों के मूल में निहित शक्ति अर्थात् चेतना को ढूँढ निकाला। आज संपूर्ण जगत् में चेतना का अविष्कार है।

दार्शनिक भी मूलतः वैज्ञानिक हैं। पश्चिम के दार्शनिक द्वैत तक पहुंचे। हीगेल ने थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस का सिद्धांत रखा, जिसका आधार लेकर कार्ल मार्क्स ने अपना इतिहास और अर्थशास्त्र का विश्लेषण प्रस्तुत किया।

डार्विन ने 'मात्स्यन्याय' को ही जीवन का आधार माना। किंतु हमने सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन किया। जो द्वैतवादी रहे, उन्होंने भी प्रकृति और पुरुष को एक–दूसरे का विरोधी अथवा परस्पर संघर्षशील न मानकर पूरक ही माना है। जीवन की विविधता, अन्तर्भूत एकता का आविष्कार है और इसलिये उनमें परस्परानुकूलता तथा परस्पर पूरकता है। बीज की एकता ही पेड़ के मूल, तना, शाखा, पत्ते, फूल और फल के विविध रूपों में प्रकट होती है। इन सबके रंग, रूप तथा कुछ न कुछ मात्रा में गुण में भी अंतर होता है। फिर भी उनके बीज के साथ के एकत्व के संबंध को हम सहज ही पहचान सकते हैं।

परस्पर संघर्ष–विकृति का द्योतक

विविधता में एकता अथवा एकता का विविध रूपों में व्यक्तीकरण ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रस्थ विचार है। यदि इस तथ्य को हमने हृदयंगम कर लिया तो फिर विभिन्न सत्ताओं के बीच संघर्ष नहीं रहेगा। यदि संघर्ष है तो वह प्रकृति का अथवा संस्कृति का द्योतक नहीं, विकृति का द्योतक है। जिस मात्स्यन्याय या जीवन संघर्ष को पश्चिम के लोगों ने ढूँढ निकाला, उसका ज्ञान हमारे दार्शनिकों को था। मानव–जीवन में काम, क्रोध आदि षड्विकारों को भी हमनें स्वीकार किया है। किंतु इन सब प्रवृत्तियों को अपनी संस्कृति अथवा शिष्ट व्यवहार का आधार नहीं बनाया। समाज में चोर और डाकू होते हैं। उनसे अपनी और समाज की रक्षा भी करनी चाहिये। किंतु उनको हम अनुकरणीय अथवा मानव–व्यवहार की आधारभूत प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि मानकर नहीं चल सकते। मानव की सभ्यता का विकास इस विधान को मानकर नहीं, बल्कि यह विधान न चल पाये, इस व्यवस्था के कारण ही सभ्यता का विकास हुआ है। आगे भी यदि बढ़ना हो तो हमें इस इतिहास को ध्यान में रखकर ही चलना होगा।

सृष्टि में जैसे संघर्ष दिखता है, वैसे ही सहयोग भी दृष्टिगोचर होता है। वनस्पति और प्राणी दोनों एक–दूसरे की आवश्यकता को पूरा करते हुये ही जीवित रहते हैं। हमें ऑक्सीजन वनस्पतियों से मिलती है तथा वनस्पतियों के लिये आवश्यक कार्बन–डाइऑक्साइड प्राणि जगत् से प्राप्त होती है। इस परस्पर–पूरकता के कारण ही संसार चल रहा है।

संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच पूरकता को पहचान कर, उनमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना संस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती, उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती, बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा करने वाले तथा उसको अधिक सुखमय एवं हितकर बनाने वाले हैं, उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रकृतियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है।

एक छोटा–सा उदाहरण लें, भाई और भाई का संबंध, माता और पुत्र का संबंध, पिता और पुत्र का संबंध, बहिन और भाई का संबंध, ये प्रकृति की देन है। ये संबंध जैसे मनुष्यों में होते हैं, वैसे पशुओं में भी होते हैं। जैसे एक मां के दो बेटे भाई हैं, वैसे एक गाय के दो बछड़े भाई होंगे। परन्तु अंतर कहाँ होता है। बेचारा पशु उस प्रकृति के संबंध को भूल जाता है। वह उस आधार के ऊपर अपने बाकी संबंधों का निर्माण नहीं कर पाता। किंतु मानव इस बात को याद रखता है और याद रखकर उसके आधार पर अपने जीवन के व्यवहार की दिशा निश्चित करता है। इस विचार से वह अपने पारस्परिक संबंधों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है। मानव–मूल्यों तथा उसकी निष्ठाओं का निर्धारण इसी आधार पर होता है। अच्छे और बुरे के संबंध में उसकी जो धारणायें निर्मित होती हैं, वे इसी आधार पर निर्मित होती हैं। देखने को तो जीवन में भाई–भाई के बीच प्रेम और वैर दोनों ही मिलते है, किंतु हम प्रेम को अच्छा मानते हैं। बन्धु–भाव का विस्तार हमारा लक्ष्य रहता है। इसके विपरीत वैर अभीष्ट नहीं समझा जाता। बैर को मानव–व्यवहार का आधार बनाकर यदि इतिहास का विश्लेषण किया जाये और फिर उसमें एक आदर्श जीवन का स्वप्न देखा जाये तो यह आश्चर्य की ही बात होगी।

माँ बच्चों का पालन–पोषण करती है। बच्चे के लिये माँ का प्रेम सबसे बड़ा समझा जाता है। इसको आधार बनाकर ही हम जीवन का निर्माण करने वाले व्यवहार के नियम बना सकते हैं। कहीं माँ के इस प्रेम के विपरीत भी अनुभव आता है। बिल्ली के बारे में कहा जाता है कि प्रसव के बाद उसे इतनी भूख लगती है कि वह अपने बच्चे को खा जाती है। किंतु दूसरी ओर बंदरिया का बच्चा भी मर जाये, तो भी वह उसे चिपकाये घूमती है। दोनों बातें देखने को मिलती हैं। अब प्रकृति के इन दो नियमों में से किस नियम को ढूँढ कर हम जीवन का आधार बना कर चलें? हमारा निर्णय तो यही होगा कि जो जीवन के लिये सहायक और पोषक है, उसे ही हम आधार बनायें, इसके प्रतिकूल चलेंगे तो वह संस्कृति नहीं होगी। मनुष्य की प्रकृति में दोनों बातें हैं। मनुष्य की प्रकृति में क्रोध भी है, लोभ भी

है। मनुष्य की प्रकृति में मोह भी है और प्रेम भी है। मनुष्य की प्रकृति में त्याग भी है और तपस्या भी है। ये सब मनुष्य के जीवन में हैं। यदि हम काम, क्रोध, मोह और लोभ को आधार बनाकर जीवन का विचार करें और कहें कि अन्ततः सब लोग क्रोधी होते हैं, हर एक को क्रोध आता है, पशु को भी क्रोध आता है, इसलिये वही जीवन का मानदण्ड होना चाहिये–क्रोध को ठीक मानकर तथा लोगों को क्रोध की सलाह देकर यदि हम व्यवस्था बनायें तो वे चल नहीं पायेंगी। अतः सर्वत्र कहा है कि क्रोध आने के बाद भी मनुष्य क्रोध को रोक सकता है, उसका दमन कर सकता है और इसलिये हमें उसका दमन करना चाहिये। अतः 'दमन' हमारे जीवन का आधार हो सकता है, 'क्रोध' नहीं।

इस प्रकार जीवन के जो नियम होते हैं, उन्हीं नियमों को 'नीति–शास्त्र के नियम' कहते हैं। ये नियम कोई तय नहीं करता। यानी क्रोध आने पर हमें क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहिये, बल्कि शांत रहना चाहिये, क्रोध को पी जाना चाहिये, ऐसे जो नियम बनाये हैं, ये 'नीति–शास्त्र के नियम' हैं। अंग्रेजी में इन्हें एथिक्स (म्जीपबे)कहते हैं।ये नियम किसी ने बनाये नहीं हैं, ये तो ढूँढे जाते हैं। जैसे यह नियम है कि यदि हम किसी पत्थर को फेंक दें तो वह नीचे गिर पड़ेगा। इसको 'गुरुत्वाकर्षण' का नियम कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन ने बनाया नहीं है। उन्होंने इस नियम को ढूँढा। उसी प्रकार से मानव–संबंधों के भी कुछ नियम हैं। गुस्सा आये तो उस गुस्से को दबाओ, यह मानव के लाभ का होता है। नीतिशास्त्र के ये नियम ढूँढे हुये नियम हैं।

एक–दूसरे के साथ झूठ मत बोलो, जैसा देखा है वैसा बोलो–यह 'सत्य' है। इसका लाभ हमें हर घड़ी अनुभव में आता है। हमको, जो जैसा है वैसा ही बोलें तो अच्छा लगता है। यदि हमने एक बात देखी और दूसरी बोली, हर स्थान पर हम झूठ बोलते रहें तो हमको भी बुरा लगेगा। बोलने वाले को भी बुरा लगेगा और सुनने वाले को भी बुरा लगेगा। और जीवन तो चल ही नहीं पायेगा। बड़ी कठिनाई हो जायेगी।

सूरज निकला और हमेने देखा कि सूरज निकला है। घर में किसी व्यक्ति ने पूछा कि सूरज निकल आया क्या? अब यदि हमने उसको झूठ बोल दिया कि नहीं निकला, या, बाहर वर्षा हो रही है और कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति हमें पूछ रहा है कि बाहर वर्षा हो रही या बादल साफ है? और हमने कहा कि बादल बिल्कुल साफ है, वर्षा नहीं हो रही है। हमारी बात मानकर जब वह बाहर निकलता है तो सहसा भीग जाता है। इस स्थिति में सोचें कि उसके–हमारे संबंध कैसे होंगे? इस प्रकार क्या जगत् चल सकेगा?

यही नियम हमारे धर्म का है

यह सत्य का जो नियम है, उसे ढूँढ़ कर निकाला गया। इस प्रकार से ढूँढ कर निकाले हुये जो नियम हैं, उनको हमारे यहाँ 'धर्म' कहा है। मानव–जीवन को स्थिर रखने वाले, मानव–जीवन की धारणा करने वाले जितने नियम हैं, वे सब धर्म हैं। उस धर्म का आधार लेकर हम संपूर्ण जीवन का विचार करें।

व्यक्ति के सुख का विचार

संपूर्ण समाज या सृष्टि का ही नहीं, व्यक्ति का भी हमने एकात्म एवं संकलित विचार किया है। सामान्यतः तो व्यक्ति का विचार उसके शरीर मात्र के साथ किया जाता है। शरीर–सुख को ही लोग सुख समझते हैं, किंतु हम जानते हैं कि मन में चिंता रही तो शरीर–सुख नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्ति शरीर का सुख चाहता है, किंतु किसी को कारागार में डाल दिया जाये और बहुत अच्छा खाने को दिया जाये तो उसे सुख होगा क्या? आनन्द होगा क्या?

पुराना उदाहरण है कि भगवान कृष्ण जब कौरवों के यहाँ संधि करने के लिये गये तो दुर्योधन ने उनको बुलाया और कहा, 'महाराज! हमारे यहाँ भोजन करने के लिये आइये।' भगवान कृष्ण दुर्योधन के घर भोजन करने नहीं गये। किन्तु विदुर के यहाँ गये। जब विदुर के यहां पहुंचे तो वहां हालत ऐसी हो गयी कि विदुर की पत्नी ने अत्यधिक आनंद के मारे केले के छिलके छील–छील कर भगवान के सामने डाल दिये और गूदा दूसरी ओर फेंक दिया। भगवान् कृष्ण भी उन छिलकों को आनंदपूर्वक खाते रहे। इसलिये लोग कहते हैं–भाई!आनंद के साथ, सम्मान के साथ यदि रूखा–सूखा भी मिल जाये तो बहुत अच्छा है, परंतु अपमान के साथ मेवा भी मिले तो उसे छोड़ना चाहिये। अतः मन के सुख का भी विचार करना पड़ता है।

इसी प्रकार बुद्धि का भी सुख है। इसके सुख का विचार करना पड़ता है, क्योंकि यदि मन का सुख हुआ भी और आपको बड़े प्रेम से रखा भी तथा आपको खाने–पीने को भी प्रचुर दिया, परन्तु यदि मस्तिषक में कोई उलझन बैठी रही तो वैसी हालत होती है जैसे पागल की हो जाती है। पागल का क्या होता है? उसे खाने को पर्याप्त मिलता है, हृष्टपुष्ट भी हो जाता है, अन्य सुविधायें भी होती हैं, परंतु मस्तिष्क की उलझन के कारण बुद्धि का सुख प्राप्त नहीं होता। बुद्धि में भी तो शांति चाहिये। इन बातों का हमें विचार करना पड़ेगा।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की प्रगति

विचारकों को लग रहा है कि उनकी जीवन–पद्धति में कहीं न कहीं कोई मौलिक त्रुटि अवश्य है, जिससे समृद्धि के बाद भी वे सुखी नहीं। कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्ण विचार नहीं कर पाये। हमारे यहां पर इस बात का पूरा विचार किया गया है, इसलिये हमने कहा है कि मानव की प्रगति का अर्थ शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा इन चारों की प्रगति है। बहुत बार लोग समझते हैं और इस बात का प्रचार भी किया गया है कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का विचार करती है, शेष के बारे में वह विचार नहीं करती।

यह असत्य है। आत्मा का विचार अवश्य करते हैं, किंतु यह सत्य नहीं कि हम शरीर, मन और बुद्धि का विचार नहीं करते। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर का विचार किया। इसलिये आत्मा का विचार हमारी विशेषता हो गयी। कालांतर में इस विशेषता ने लोगों में एकान्तिकता का भ्रम पैदा कर दिया। जिसका विवाह नहीं हुआ, वह केवल माँ से प्रेम

करता है, किंतु विवाह के बाद माँ और पत्नी–दोनों से प्रेम करता है तथा दोनों के प्रति दायित्व को निभाता है। अब इस व्यक्ति से कोई कहे कि उसने मां से प्रेम करना छोड़ दिया तो यह असत्य होगा। पत्नी भी, जब तक पुत्र नहीं होता, केवल पति से प्रेम करती है, बाद में पति और पुत्र दोनों से प्रेम करती है। इस अवस्था में कभी–कभी अज्ञानवश पत्नी पर पति यह आरोप लगा देता है कि वह तो अब उसकी चिंता ही नहीं करती। किंतु यह आरोप सही नहीं होगा। यदि सही है तो पत्नी अपने कर्तव्य से विमुख हो गयी है।

हमारी आवश्यकतायें– चारों पुरुषार्थ

इसी प्रकार हम आत्मा की चिंता करते हुये शरीर को नहीं भूलते। उपनिषद् में तो स्पष्ट शब्दों में कहा है "ना आत्मा बलहीनेन लभ्यः"–दुर्बल (व्यक्ति) आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार की सूक्ति है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'–अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है। 'दूसरे लोगों से हमारा यही अंतर है कि उन्होंने शरीर को साध्य माना है, परंतु हमने उसे साधन समझा है। इस नाते से हमने शरीर का विचार किया है। जितनी भौतिक आवश्यकतायें हैं– उनकी पूर्ति का महत्व हमने स्वीकार किया है, परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं माना। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा एषणाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहाँ चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी गयी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– ये चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का अर्थ उन कर्मों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पालन से उसको आनंद प्राप्त होता है। इन पुरुषार्थों का भी हमने संकलित विचार किया है। यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है, तो भी अकेले उसके लिये प्रयत्न करने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वास्तव में अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करने वाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। इसके विपरीत शेष पुरुषार्थों को लोक–संग्रह के विचार से, निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति कर्म–बंधन से छूटकर मोक्ष का अधिकारी होगा।

अर्थ के अन्तर्गत आज की परिभाषा के अनुसार राजनीति और अर्थनीति का समावेश होता है। पुरानी परिभाषा में 'दण्डनीति और वार्ता' अर्थ के अन्तर्गत आती है। काम का संबंध मानव की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति से है। धर्म में उन सभी नियमों, व्यवस्थाओं, आचरण–संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धांतों का अन्तर्भाव होता है, जिनसे अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हो।

इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, किंतु फिर भी तीनों अन्योन्याश्रित तथा एक–दूसरे के पूरक और पोषक हैं। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है। यदि व्यापार भी करना हो तो मनुष्य को सदाचरण, संयम, त्याग, तपस्या, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना पड़ेगा, बिना इन गुणों के पैसा नहीं कमाया जा सकता। साधन के रूप में तो धर्म को मानना ही पड़ेगा। अमेरिका वालों ने कहा– 'व्यापार के मामले में सत्यनिष्ठा

सर्वश्रेष्ठ नीति है (भ्वदमेजल पे जीम इमेज इनेपदमे च्वसपबल)। 'यूरोप के लोगों ने कहा– 'सत्यनिष्ठा सर्वश्रेष्ठ नीति है (भ्वदमेजल पे जीम इमेज चवसपबल)।' हमारा उनसे एक कदम आगे चलकर कहना है कि 'सत्यनिष्ठा नीति नहीं अपितु सिद्धांत है। (Honesty is not a policy but a principle) अर्थात् धर्म में हमारा विश्वास केवल उसकी साधनता के कारण ही नहीं अपितु स्वयंभू है। राज्य का आधार भी हमने धर्म को माना है। अकेली दण्डनीति राज्य को चला नहीं सकती। समाज में धर्म न हो तो राज्य नहीं टिक सकेगा। काम पुरुषार्थ भी धर्म के सहारे ही सधता है। भोजन उपलब्ध होने के उपरांत कब, कहाँ, कितना, कैसा और कैसे उसका उपयोग हो, यह तो धर्म ही निश्चित करेगा। अन्यथा, रोगी ने यदि स्वस्थ व्यक्ति का भोजन किया और स्वस्थ ने रोगी का, तो दोनों का ही अकल्याण होगा। मनुष्य की मनमानी को रोकने, उसके स्वैराचरण पर प्रतिबंध लगाने तथा प्रेय के पीछे श्रेय को न भूलने देने में धर्म ही सहायक होता है। अतः हमारे यहां धर्म का विशेष महत्व है।

अर्थ द्वारा अनर्थ की संभावना

अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी धर्म का घातक होता है। प्रभाव का अभिप्राय आधिक्य मात्र नहीं है। जब व्यक्ति और समाज में अर्थ साधन न रहकर साध्य बन जाये तथा जीवन की सभी विभूतियाँ अर्थ से ही प्राप्त हों तो वहाँ अर्थ का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और वह अर्थ–संचय के लिये नानाविध पाप करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास अधिक धन हो, उसके विलासी बन जाने की संभावना बनी रहती है। जहाँ व्यक्ति को अर्थ के सदुपयोग का ज्ञान नहीं होता, वहां भी अर्थ का प्रभाव होता है। जहाँ 'गौण अर्थ'अर्थात् मुद्रा तथा उपभोक्ता वस्तुओंके लिये लगने वाली उत्पादक वस्तुओं का आधिक्य हो, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। इन सभी प्रकार के अर्थ के प्रभावों से बचना चाहिये। इसके लिये शिक्षा, संस्कार, दैवी, सम्पद्युक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढाँचा, सभी का सहारा लेना आवश्यक होता है।

दण्ड–नीति

अर्थ के अन्तर्गत दण्डनीति भी आती है। उसका प्रभाव भी धर्म के लिये हानिकारक होता है। राजा को बताया जाता है कि उसे न 'क्षीणदण्ड' होना चाहिये और न 'उग्रदण्ड' होना चाहिये। अपितु 'मृदुदण्ड' होना चाहिये। यदि शासक दण्डनीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। जब धर्मभाव के स्थान पर दण्ड ही प्रजा के आचरण का नियामक बन जाये तो दण्डनीति का प्रभाव हो जाता है तथा धर्म का ह्रास होने लगता है। निरंकुश राजाओं के शासन में धर्म की ग्लानि का यह प्रमुख कारण है।

राज्य की निरंकुशता

राज्य जब सब प्रकार की विभूतियों को अपने अधीन कर लेता है, तब भी उसका प्रभाव पैदा होकर धर्म की हानि होती है। राज्य की शक्ति और क्षेत्र अमर्यादित हो गये तो सम्पूर्ण

जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। वहाँ राज्य का प्रभाव हो जाता है। राज्य में कर्तव्य–भावना के स्थान पर आसक्ति पैदा हो जाती है। ये सब प्रभाव के लक्षण है। इन अवस्थाओं में धर्म को धक्का लगता है, अतः अर्थ का दोनों ही दृष्टि से प्रभाव नहीं होने देना चाहिये।

काम का भी इसी प्रकार विचार किया गया है। काम पुरुषार्थ की ओर किंचित् भी ध्यान दिया नहीं गया तो धर्म की हानि होगी। बिना भोजन के धर्म नहीं चल सकता। मन को संतोष देने वाली ललित कलाओं, यज्ञ–यागादि कर्मों की अवहेलना हुई तो धर्म का पालन करने वाले संस्कार नहीं होंगे। मानस विकृत रहेगा तथा धर्म की हानि होगी। दूसरी ओर रोम के ग्लटन्स (Glutton) की भांति हम पेटू और विलासी बन गये अथवा ययाति की भाँति काम–मोहित होकर अपने सभी कर्तव्यों को भूल गये, तो भी धर्म की हानि होगी। अतः धर्म के अविरोधी काम पुरुषार्थ का अवश्य निर्वाह करना चाहिये।

इस प्रकार हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ तथा संकलित विचार किया है। उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है। उसकी सभी भूखों को मिटाने की व्यवस्था कही है। किंतु यह ध्यान रखा है कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्न में दूसरी भूख न पैदा कर दें अथवा दूसरे को मिटाने का मार्ग बंद न कर दें। इस हेतु चारों पुरुषार्थों का संकलित विचार हुआ है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है जो हमारा आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन–दोनों ही हैं।

सन्दर्भ :

1. लाल, रमन बिहारीः 2003, पन्द्रहवाँ संस्करण "शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार" रस्तोगी पब्लिकेशन्स, शिवाजी रोड, मेरठ–250002
2. लाल, रमन बिहारी व सुनीता पलोड़ः 2006, प्रथम संस्करण, "शैक्षिक चिन्तन एवं प्रयोग", आर0लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कॉलेज, मेरठ–250001
3. मित्तल, एम0एल0ः 2004, "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक", इन्टरनैशनल पब्लिशिंग हाउस,मेरठ
4. माथुर, एस0 एस0ः 1997 "शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार", विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
5. आबेराय, सुरेश चन्द्रः 2005 "शिक्षा तकनीकी के तत्व एवं प्रबन्धन", आर0 लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कॉलेज,मेरठ–250001
6. पाठक, पी0डी0 व जी0एस0डी0त्यागीः 2006, "शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त", विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–282002
7. पाण्डेय, रामशकलः 2005, द्वितीय संस्करण, "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–282002
8. राठौर, कुसुम लताः 2009, प्रथम संस्करण, "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक", आर0लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कॉलेज, मेरठ–250001

9. राय, पारस नाथः 2007, द्वादशम् संस्करण, ”अनुसंधान परिचय“, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा–282002
10. सक्सेना, एन0आर0स्वरूपः 2002, ग्यारहवाँ संस्करण ”उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक“ सूर्या पब्लिकेशन, निकट राजकीय इण्टर कॉलेज, मेरठ–250001
11. सक्सेना, एन0आर0स्वरूप व शिखा चतुर्वेदीः 2007, ”उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक“, आर0लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कॉलेज, मेरठ–250001
12. अग्रवाल जे0 सी0ः 1972 ”विद्यालय प्रशासन“, आर्य बुक डिपो, करौलबाग, नई दिल्ली–51
13. भिषीकर, चन्द्रशेखर परमानन्दः 1991, द्वितीय संस्करण, ”पं0 दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन“ खण्ड–5 (राष्ट्र की अवधारणा), सुरुचि प्रकाशन, झण्डेवालान, नईदिल्ली–110055
14. उपाध्याय,दीनदयालः 2007, दशम् संस्करण, ”राष्ट्र जीवन की दिशा“, लोकहित प्रकाशन, संस्कृति भवन राजेन्द्रनगर,लखनऊ–226004
15. उपाध्याय,दीनदयालः 2007, अष्टम् संस्करण, ”राष्ट्र चिन्तन“, लोकहित प्रकाशन, संस्कृति भवन राजेन्द्रनगर,लखनऊ–226004
16. उपाध्याय, दीनदयालः 2004, नवम् संस्करण, ”एकात्म मानववाद“, जागृति प्रकाशन,नोएडा–201301
17. उपाध्याय, दीनदयालः 1991, द्वितीय संस्करण, ”पोलिटिकल डायरी“ सुरुचि प्रकाशन, झण्डेवालान, नई दिल्ली–110055